अध्याय – 6

समापन

अध्याय – 6

समापन

भारत में लोकधर्मी नाट्य की परम्परा प्राचीन काल से आज तक लगातार चलती आ रही है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि हमारे देश में जनसंख्या की दृष्टि से साधारण जनता की मात्रा अधिक रही है। "लोक" शब्द का अर्थ सामान्यतया जन या साधारणजन स्वीकार किया गया है। लोकधर्मी नाट्य में लोकजीवन और लोकसंस्कृति का व्यापक चित्रण मिलता है। भारत जैसे द्वीप प्राय देश के दो प्रकार – अभिजात संस्कृति, लोकसंस्कृति माने गये हैं। वस्तुत: लोकसंस्कृति की नींव पर अभ्जात संस्कृति का भवन खड़ा हुआ है। कोई भी साहित्यकार अपने देश, काल, परिस्थिति से प्रभावित होता है ओर साहित्य का सृजन करता है। अत: हमारे कतिपय साहित्यकारों ने लोक का चित्रण अपने साहित्य में किया है। जिस लोक का चित्रण नाट्य में किया गया है उसे लोकधर्मी नाट्य कहा जा सकता है।

हिन्दी में लोकधर्मी नाट्य परम्परा "रामलीला", "रासलीला" आदि लोकनाट्यों से शुरू हुई है और इसका विकास अन्य लोकधर्मी नाट्य प्रकारों के द्वारा हुआ है। हमारे हिन्दी नाटककारों की प्रतिभा का यह प्रतिफलन है। सामान्यतया लोकधर्मी नाट्य प्रकारों में रासलीला, रामलीला के अतिरिक्त यक्षगान, कीर्तनियां, अंकियानाट, दशावतार, छऊ, तेरूकूत्तु, भगत, विविध प्रकार के ख्याल–नौटंकी ख्याल, जयपुरी ख्याल आदि अपना विशेष महत्व रखते हैं। स्वांग, बहुरूपिया, भांड, भवाई, तमाशा, विदेशिया आदि लोकधर्मी नाट्य प्रकारों को भी भूला नही जा सकता। लोकधर्मी नाट्यों में मुख्यतया लोकजीवन और लोकसंस्कृति से संबध्द कथानक प्रस्थापित तथा उपेक्षित वर्ग के पात्रों का समावेश तथा विविध प्रकार की लोककथाओं के समावेश के साथही साथ लोकसंवाद, लोकगीत, लोकनृत्य, लोकभाषा आदि का इस्तेमाल किया जाता है। लोकधर्मी नाटकों का दर्शक अधिकांशत: जन साधारण होता है। तथापि, सुशिक्षित, सुसंस्कृत लोग भी लोकधर्मी नाटक देखते हैं।

हिन्दी में लोकधर्मी नाट्य की परम्परा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के बाद शुरू हुई है। वास्तव में हिन्दी के लोकधर्मी नाट्य का प्रारम्भ अनामत के "इन्दरसभा" से माना जाता है। भारतेन्दु युग, पारसी रंगमंच, पृथ्वी थियेटर का भी योगदान लोकधर्मी नाट्य परम्परा में कुछ मात्रा में रहा है। स्वातंत्र्योत्तर युग में हबीब तनवीर का "आगरा बाजार" और धर्मवीर भारती का "अन्धायुग" (काव्य नाटक) लोकधर्मी नाट्य परम्परा के उदाहरण हैं।

विशेष बात यह है कि 1960 के बाद हिन्दी में . लोकधर्मी नाट्य की एक लम्बी परम्परा दिखाई देती है। इस परम्पर में 1962 से1997 तक के लोकधर्मी नाटक अपना महत्व रखते हैं। ये लोकधर्मी नाटक भारत की मिट्टी की सुगंध है। साठोत्तर हिन्दी लोकधर्मी नाटकों में डॉ.लक्ष्मीनाराण लाल के "नाटक तोता–मैना", "सूर्यमुख", "कलंकी", "एक सत्य हरिश्चन्द्र", ज्ञानदेव अग्निहोत्री का "शुतुरमुर्ग", जगदीशचंद्र माथुर के "पहला राजा", "दशरथनन्दन", "रघुकुल रीति", भीष्म साहनी के "कबिरा खडा बजार में", "माधवी", सुरेन्द्र वर्मा का "शकुंतला की अँगूठी", शरद जोशी के "दो व्यंग्य नाटक" ("एक था गधा", "अन्धों का हाथी"), मणि मधुकर के "बुलबुल सराय", "इकतारे की आँख", "दुलारी बाई", हमीदुल्ला के "उलझी आकृतियाँ" (स्मय सन्दर्भ), "उत्तर उर्वशी", "जैमती", "ख्याल भारमली", सुशीलकुमार सिंह का "सिंहासन खाली है", राजेश जोशी के "जादूगर जंगल", "टंकारा का गाना" आदि महत्वपूर्ण नाटक हैं। 1997 में राकेश का "रामलीला" नाटक लिखा गया हैं। हिन्दी लोकधर्मी नाट्य की यह परम्परा हिन्दी नाट्य साहित्य के विकास में निश्चय ही उल्लेखनीय है।

हिन्दी की समृध्द लोकधर्मी नाट्य परम्परा में मणि मधुकर का "दुलारी बाई" और हमीदुल्ला का "ख्याल भारमली" – दो ऐसे नाटक है जिनमें लोकजीवन और लोकसंस्कृति का यथार्थ चित्रण व्यापक रूप में किया गया है। साथ ही साथ लोकनाट्य शैली तथा लोक रंगमंच की दृष्टि से ये नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं।

मणि मधुकर का "दुलारी बाई" और हमीदुल्ला का "ख्याल भारमली" दो ऐसे नाटक हैं जो हिन्दी की लोकधर्मी नाट्य परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। एक में भारत के किसी देहात का चित्रण विस्तृत मात्रा में किया गया है और दूसरे में राजस्थान के अजमेर ओर जैसलमेर के ऐतिहासिक वातावरण के अन्तर्गत सामन्तीय लोकजीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है। लोकजीवन और लोकसंस्कृति की दृष्टि से दोनों नाटक हिन्दी लोकधर्मी नाट्य

परम्परा के गौरव चिह्न हैं। इन दोनों नाटकों के अनुशीलन से यह सिध्द हो जाता है कि दोनों नाटकों में लोक का चित्रण व्यापक धरातल पर किया गया है। "दुलारी बाई" नाटक में भारत के किसी भी देहात की मिट्टी की गंध यत्र–तत्र फैली गई दिखाई देती है तो "ख्याल भारमली" नाटक में राजस्थान की मिट्टी की गंध सबको भावविभोर कर देती है।

मणि मधुकर के "दुलारी बाई" और हमीदुल्ला के "ख्याल भारमली" दोनों नाटकों के शीर्षक से ये स्पष्ट है कि दोनों नाटक नायिकाप्रधान हैं। एक में भारत के किसी ग्राम की कंजूस, पैसे के पीछे लगनेवाली और साथ ही साथ रानी बनने का स्वप्न रखनेवाली नारी का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत है तो दूसरे में एक यौवन से परिपूर्ण और शारीरिक सौंदर्य से उत्तेजना देनेवाली एक दासी का चित्र प्रस्तुत है। एक गाँव की सुन्दरी है और दूसरी राजस्थान के राजघराने में पली हुई सुन्दरी है। एक में देहाती नारी का स्वाभाविक सौंदर्य है तो दूसरी में स्वाभाविक सौंदर्य के साथ ही साथ जेवरों, आभूषणों से युक्त नारी सौंदर्य की गरिमा है। दोनों में विवाह के प्रति आकर्षण है। दोनों रानी बनने की आकांक्षिणी हैं। लेकिन दोनों नाटकों में यह भी दर्शाया गया है कि "दुलारी बाई" नाटक में दुलारी बाई कल्लू भांड के राजा की वेशभूषा में संपन्न व्यक्ति के साथ विवाहबध्द हो जाती है। इसके विपरीत "ख्याल भारमली" नाटक में अजमेर का राजा मालदेव भारमली को रानी के रूप में कुछ समय तक अपनाता है और वह कुछ दिनों की अजमेर की रानी बन जाती है। लेकिन उत्तराधिकार का प्रश्न राजा मालदेव के सामने खड़ा होने पर राजा और राजदरबारी उसे रानी स्वीकारने में आपत्ति उठाते हैं और उसे पुनश्च: एक दासी और भोग्या के रूप में ही जीवन बिताना पडता है।

दोनों नाटकों में प्रेम के स्वरूप का जो चित्रण किया गया है वह भी महत्वपूर्ण है। "दुलारी बाई" नाटक में दुलारी बाई के सूत्रधार, चिमना माँझी, ननकू मोची, कल्लू भांड प्रियकर निर्देशित किये गए हैं। लेकिन ये प्रियकर कभी उसका शारीरिक उपभोग नहीं करते। केवल ऊपरी तौर पर प्रेम करने का प्रयास करते हैं और दुलारी बाई भी उनके प्रेम को समझ कर भी नहीं समझती। दुलारी बाई प्रत्यक्ष किसी को दाद नहीं देती है। आखिर राजा के वेश में मंच पर उपस्थित कल्लू भांड के साथ ही दुलारी बाई विवाहबध्द हो जाती है। इसके विपरीत भारमली का पहला प्रेमी संकरिया है। जैसलमेर से अजनेर आने पर भारमली रानी उमादे की दासी रहकर भी अजमेर के राजा की भोग्या बन जाती है और तत्पश्चात प्रसंगवश सरदार बाघा धाडेत,

संकरिया, स्वामी और पुनश्चः मालदेव के भोगविलास शोषण का शिकार बन जाती है। सामन्तकालीन दलित वर्ग के नारी का भोग्या रूप और नारी की दयनीय दशा का चित्र "ख्याल भारमली" नाटक की एक विशिष्टता है।

"दुलारी बाई" नाटक में भी दुलारी बाई के शोषण की कथा–व्यथा वर्णित है। लेकिन ये शोषण मुख्यतया आर्थिक है। कभी उसका शोषण जुर्म्राना के रूप में गाँव का सरपंच – पटेल करता है तो कभी फर्जीलाल के रूप में झूठी गवाह देने के व्यवहार से हर्जाना के रूप में किया जाता है। इसप्रकार हम ये देखते हैं कि दुलारी बाई का शोषण आर्थिक स्तर पर है और भारमली का शोषण उपभोग्या नारी के रूप में है। लेकिन नारी शोषण दोनों में है। लोकजीवन की दृष्टि से आज की स्त्री इन दो प्रकारों के शोषणों से मुक्त नहीं हो पाई है। भले ही हमारा देश 1947 में आजाद हुआ है लेकिन आजाद भारत की नारी आज भी परतंत्र ही है। इतना ही नहीं अजमेर के राजा मालदेव की विवाहिता रानी उमादे राजा से पूरी तरह से उपेक्षिता नारी है। यही नारी दशा है।

लोकजीवन की दृष्टि से देखा जाए तो "दुलारी बाई" में गाँव के सामाजिक स्तर का व्यापक चित्र दिखाई पडता है। कल्लू भांड, ननकू मोची, चिमना माँझी, पटेल सरपंच, गंगाराम जाट आदि विविध स्तर के लोग लोकसमाज के भागीदार हैं और "ख्याल भारमली" नाटक में दरबारी संस्कृति का संक्षिप्त चित्रण है।

लोकसंस्कृति की दृष्टि से देखा जाए तो "दुलारी बाई" नाटक में ही देव–देवताओं के मिथकों के परिप्रेक्ष्य में गांव में प्रचलित लोकविश्वास, अन्धविश्वास, लोकाचार आदि का चित्रण प्रासंगिक रूप में किया गया है जो लोकसंस्कृति की एक विशेषता है।

लोकनाट्य शैली की दृष्टि से विशेष विवेच्य दोनों नाटक सफल माने जा सकते हैं। "दुलारी बाई" नाटक में पुतले की लोककथा, डंडे की लोककथा, पुश्तैनी जूतों की लोककथा, लालच बूरी बला है – लोककथा, भारमली की लोककथा आदि लोककथाओं का सुन्दर प्रयोग किया गया है। ये लोककथाएँ निश्चय ही नाटक की कथावस्तु के विकास क्रम में और पात्रों के चरित्र चित्रण में सहायक हुई हैं। दोनों नाटकों में लोकभाषा, लोकसंवाद, लोकगीत, लोकनृत्य, लोकवाद्य आदि लोकनाट्य शैली की दृष्टि से विशेष महत्व रखते हैं। "दुलारी बाई" नाटक में राजा के भेस में कल्लू भांड द्वारा जूतों का मुकुट पहनाकर किया गया लोकनृत्य और "ख्याल

भारमली" में भोपा–भोपी तथा भारमली और बाघा का नृत्य लोकनृत्य के अनूठे उदाहरण हैं, जो पाठकों और प्रेक्षकों को आनंद दिलाते हैं। "दुलारी बाई" नाटक में मुखौटे लगाकर कठपुतली का खेल का आयोजन भी लाजवाब है। हास्य और व्यंग्य की दृष्टि से "दुलारी बाई" नाटक अधिक सफल है। इस नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक प्रासंगिक रूप में हास्य और व्यंग्य प्रयोग उल्लेखनीय है। "ख्याल भारमली" में हास्य और व्यंग्य का प्रयोग सीमित है लेकिन उपेक्षणीय नहीं है।

"दुलारी बाई" नाटक मुख्यतः नौटंकी शैली में लिखा गया है और "ख्याल भारमली" जयपुरी ख्याल में लिखा गया है। ये दोनों नाटक इस दृष्टि से हिन्दी लोकधर्मी नाट्य परम्परा से जुड़े हुए हैं। ये दोनों नाटक लोकमंच की दृष्टि से भी उल्लेखनीय हैं। दोनों नाटकों की मंचसज्जा सीधी, साधी और लोकनाट्यानुरूप है। मुक्ताकाक्षी लोकमंच पर दोनों नाटक खेले गये हैं और आगे भी खेले जा सकते हैं। स्त्री और पुरूष दोनों की वेशभूषा पात्रानुकूल तथा लोकमंचानुकूल है। दोनों भी नाटक रंगमंच पर सफलता के साथ खेले गये हैं। अभिनेयता की दृष्टि से "दुलारी बाई" नाटक में दुलारी बाई, ननकू मोची, कल्लू भांड आदि पात्रों का अभिनय लोकजीवन की यथार्थवादिता को उजागर करता है। "ख्याल भारमली" में राजा मालदेव का दासी भारमली के साथ मंच पर टिकडी का खेल खेलना, सरदार बाघाजी और भारमली का अंग्रेजी भाषा में रोमांटिक संवाद, स्वामी का परम्परागत स्वामी रूप भूलकर भारमली के सौंदर्य पर आसक्त होना, गिध्द की तरह उस पर टूट पडना, अभिनय स्थल के सशक्त उदाहरण हैं। दोनों नाटकों में ध्वनि और प्रकाश योजना के, वाद्यवृन्दों के लोकसंस्कृतिपरक प्रयोग लोकधर्मी नाट्य के अनुकूल हैं। इन सबका समान्वित प्रभाव यह स्पष्ट करता है कि ये दोनों नाटक पढते और देखते समय ऐसा लगता है कि भारत के लोकजीवन और लोकसंस्कृति की झाँकी प्रस्तुत करने में कामयाब हुए हैं। विशेष विवेच्य दोनों नाटकों में महत् अन्तर यह है कि "दुलारी बाई" नाटक सुखान्त है और "ख्याल भारमली" नाटक दुखान्त है। लेकिन लोकधर्मी नाट्य परम्परा में सुख–दुःख का जो मेल–जोल दिखाई देता है, वह इन दो नाटकों की लोकधर्मिता का ही मनोहर संगम है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि साठोत्तर हिंदी लोकधर्मी नाट्य परम्परा का भविष्य उज्जवल है।